

नक्सली चुनौती के विरुद्ध भारत की जवाबी कार्रवाई को समझना

Understanding India's Counterinsurgency Strategy Against the Naxal Threat

समीर लालवानी

Sameer Lalwani

July 14, 2014

अपने चुनावी अभियान के दौरान मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी ने नक्सलवाद के खिलाफ खूब जुबानी जंग की थी और नक्सलवाद को कतई बर्दाश्त न करने की रणनीति का ऐलान भी किया था और कुछ लोग तो प्रधानमंत्री मोदी की सरकार से यह उम्मीद लगाये बैठे थे कि वर्तमान रणनीति को पूरी तरह से बदल दिया जाएगा, लेकिन जिस तरह से उन्होंने इस समस्या को सतही तरीके से हल करने की कोशिश की है उससे इन लोगों को मोदी सरकार से बहुत उम्मीद नहीं करनी चाहिए. प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने नक्सली समस्या को भारत की एकमात्र सबसे बड़ी आंतरिक सुरक्षा की चुनौती बताया था और कहा था कि एक अनुमान के अनुसार इस समस्या से देश के एक-तिहाई ज़िले प्रभावित हो रहे हैं.

केंद्र में बैठे कुछ लोग इस समस्या की गंभीरता को समझते तो हैं, लेकिन असल में इससे निपटने के लिए अस्थाई और तदर्थ उपाय ही करते रहे हैं. नक्सली लोगों से बड़े शहरी केंद्रों और उन महत्वपूर्ण क्षेत्रों को कोई खतरा नहीं है जो भारत के लिए सबसे अधिक मतलब रखते हैं और न ही नक्सलवाद के नाम से इन लोगों के मन में उस प्रकार की दशहत या अविश्वास ही पैदा होता है, जिस प्रकार से अन्य दूरस्थ सामाजिक विद्रोही दलों से होता है. यही कारण है कि नक्सलवादी विद्रोह आगे भी जारी रहेगा और एक लाइलाज बीमारी की तरह बस इसकी मलहम पट्टी होती रहेगी और इस समस्या को सहानुभूति और पुनर्वास के नज़रिये से ही देखा जाता रहेगा.

सन् 2004 में भारतीय साम्यवादी पार्टी- माओवादी (सीपीआई-एम) के गठन के बाद ही नक्सलवादियों का फिर से बड़े पैमाने पर उदय हुआ. पूर्वोत्तर राज्यों और कश्मीर में अलगाववादियों द्वारा फैलाई गई हिंसा की आड़ में सन् 2009 में नक्सली हिंसा बढ़ने लगी. सन् 2001 में उनके सशस्त्र कैडरों की जो संख्या 5,000 थी, वही संख्या अब 20,000 हो गई है और उन्हें 50,000 अन्य सैन्यबलों की सहायता भी मिल गई है. कदाचित् मनमोहन सिंह की चेतावनी के पीछे का यही सच था और यही कारण है कि नये सुरक्षा कार्यक्रम और विकास योजनाएँ बनाने और अर्ध-सैन्य बलों की तैनाती के लिए सरकारी गतिविधियों की बाढ़-सी आ गई थी. इन तमाम प्रयासों के बावजूद बड़े-बड़े विश्लेषकों का

मानना है कि ये तमाम सरकारी प्रयास बहुत कमज़ोर, नाकाम, सतही, मनगढ़ंत, बुज़दिली और बेरुखी-से भरे थे.

यह सच है कि भारत सरकार ने नक्सलवाद से निपटने के लिए सशस्त्र सेना की मदद लेने का मन बना लिया था, लेकिन उनकी रणनीति बहुत कमज़ोर थी. विद्रोह से जूझने वाले राज्यों के पास जवाबी कार्रवाई के अनेक विकल्प होने चाहिए ताकि वे संकट के अनुरूप और प्राथमिकता के अनुसार संतुलन बनाते हुए विकल्प का चुनाव कर सकें. मज़बूत राज्य भी विद्रोहियों से निपटने के लिए आम तौर पर तभी बड़े कदम उठाते हैं जब उनके मूलभूत और महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर खतरा मँडराता है. साथ ही सरकारें बाहरी शत्रुओं के मुकाबले ऐसे दलों के खिलाफ़ सख्त कार्रवाई करने से हिचकती हैं जिनके संबंध और पहचान राष्ट्रीय स्तर की होती है. यही कारण है कि नक्सली आतंकवाद के खिलाफ़ कड़े कदम उठाने या हिंसा से निपटने के लिए भारत सरकार में इच्छाशक्ति की भारी कमी रहती है और पूरी रणनीति मात्र हिंसा को कम करने की ही होती है, राजनैतिक विप्लव को खत्म करने की नहीं होती.

इतने बड़े, संगठित, महत्वाकांक्षी और प्रभावी विद्रोही संगठन से मुकाबला करने के लिए भारत सरकार कम से कम हिंसक उपायों को ही अपनाने का प्रयास करती रही है. भारत सरकार युद्ध में सफल सिद्ध होने वाली जवाबी कार्रवाइयों को अपनाने में भी झिझकती है और विकासपरक और कम से कम नुकसान करने वाले उन उपायों को अपनाती है जिनकी अक्सर आलोचना होती है और कम से कम भिड़ंत वाली कार्रवाई करती है और यही रणनीति विद्रोहियों के पक्ष में जाती है.

नक्सलवादियों के साथ कुछ मानवता का भाव भी जुड़ा हुआ है, जबकि दूसरे विद्रोही गुटों के साथ ऐसा कोई भाव नहीं होता. भारतीय नेता तो उन्हें सर्वसमावेशी भाषा के शब्दों के साथ जोड़कर देखने का प्रयास करते हैं. जैसे “पिछड़े हिंदू” और “सच्चे भारतीय” आदि. इन शब्दों से यह लगता है कि कश्मीरियों और नगा विद्रोही गुटों की तुलना में उन्हें ये अधिक करीबी लगते हैं. पूर्व गृहमंत्री तो नक्सलवादियों को अपने बच्चे कहकर संबोधित करते थे और यही कारण है कि उनके साथ संयम बरता जाता है. एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी ने कहा था, नक्सलवादी हमारे अपने लोग हैं, इसलिए उन पर सीमित कार्रवाई ही की जाती है. बहुत से लोग तो नक्सलवादियों को 'भटके हुए' लोग मानते हैं. इसलिए इनके विद्रोह को भी एक युक्ति ही मानते हैं. इसी समझ से पता चलता है कि सरकारी संस्थाएँ मोटे तौर पर विद्रोहियों को अलग-अलग कोटियों में परिभाषित करती हैं. कुछ

विद्रोही गुट ऐसे होते हैं, जिनसे समझौते की गुंजाइश कम है और उनकी हिंसा के भी अलग-अलग स्तर होते हैं.

पहले तो भारत ने पंजाब और कश्मीर में विद्रोहियों को हराने के लिए भारी मात्रा में सैन्यबल, पैसे और सैन्य-सामग्री का इस्तेमाल किया था, लेकिन जब पूर्वोत्तर और नक्सली क्षेत्रों जैसे कम महत्वपूर्ण इलाकों में विद्रोही वारदातों से निबटने की बात आई तो भारत सरकार ने संयम की सीमित रणनीति की वकालत की. नक्सली इलाके परिधियों पर बसे ऐसे अंचल हैं, जो कम विकसित हैं, दुर्गम हैं और राजनैतिक दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण हैं और जहाँ अव्यवस्था का पहले से ही राज है और यही कारण है कि इसे ऐसे ही चलाया जा सकता है. आज की तारीख में नक्सली विद्रोही बड़े शहरी इलाकों में कोई हिंसक वारदात नहीं करते. सरकारी साहब लोग जनमत के हिसाब से इसे सरदर्द तो मानते हैं, लेकिन जैसा कि एक रिटायर्ड अधिकारी ने कहा था, " बस ऐसे *लगते* रहना चाहिए कि हम कारवाँ कर रहे हैं."

मामला सुरक्षा का हो या विकास का, भारत सरकार इसके लिए सीमित संसाधन और कौशल ही जुटाती है, निरंतरता नहीं बनाए रखती और कम से कम ध्यान देती है. जब तक दिल्ली सरकार सेना को यह काम नहीं सौंपती तब तक यह काम पुलिस के जिम्मे ही रहेगा और पुलिस की 20 प्रतिशत क्षमता पहले से ही कम है या फिर उसका दुरुपयोग किया जाता है. पुलिस तभी प्रभावी तौर पर जवाबी कार्रवाई कर सकती है, जब उस पर ज्यादा निवेश किया जाए और उसमें सुधार किये जाएँ, जैसा कि पंजाब में और बाद में कश्मीर में किया गया था. लेकिन न तो राज्य की पुलिस और न ही केंद्र की पुलिस इतनी सुशिक्षित है, साज-सामान से सुसज्जित है और सुदृढ़ है कि वह नक्सल विद्रोहियों का मुकाबला कर सके. भले ही केंद्रीय अर्धबल बटालियन राज्य-भर में फैली हुई हों लेकिन उनका उपयोग कुछ समय के लिए और सीमित कार्रवाई के लिए ही किया जाता है और यही कारण है कि उनका खास प्रभाव नहीं होता. आंध्र प्रदेश में की गई कार्रवाई इसका अपवाद ज़रूर है, लेकिन इसके सुसज्जित सैन्यबल को यह सफलता तभी मिली, जब इसने दो दशकों तक लगातार नक्सल-विरोधी अभियान चलाया और जब इसकी हिंसक वारदातों का पड़ोसी राज्यों पर भी प्रभाव पड़ने लगा. यद्यपि आंध्रप्रदेश को नक्सलियों पर विजय पाने में सफलता मिली, लेकिन भारत अब भी पुराने खेल में लगा हुआ है, जिसके फलस्वरूप यह सारी कवायद बेकार ही सिद्ध हो रही है.

यहाँ तक कि सरकार के विकास-कार्यों का भी राजनैतिक और आर्थिक सुधार लागू करने पर कोई खास असर नहीं पड़ा है. बुनियादी ढाँचे पर किये जाने वाले खर्च में भी पूरा ध्यान जनबल विकास पर ही रहता है और कुल आबंटित निधि का 3 प्रतिशत इसी मद पर खर्च होता है. यदि प्रभावित आबादी के आकार को देखें तो सुरक्षा संबंधी व्यय और समन्वित कार्य योजना का वार्षिक खर्च 700 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष होता है जो कश्मीर और पंजाब पर किये जाने वाले खर्च की तुलना में समुद्र में बूँद की तरह है. सामान्य विकास योजनाओं का कुछ सकारात्मक असर जरूर हुआ है, लेकिन न तो इनका सही लक्ष्य होता है और न ही ये कार्यक्रम नियमित रूप में चलाये जाते हैं और भ्रष्टाचार और विद्रोहियों की जबरन वसूली के कारण यह रकम भी बर्बाद हो जाती है.

संघीय प्रणाली भी व्यापक योजना बनाने में बाधाएँ उत्पन्न करती है, लेकिन इससे भी वर्तमान दुविधा को पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया जा सकता. काफी धमकियों के बाद ही भारत की केंद्र सरकार ने विभिन्न राज्यों में एक समन्वित जवाबी कार्रवाई के अभियान की योजना बनाई है, जैसा कि सेना ने सन् 1971 में प. बंगाल, बिहार और ओडिसा में ऑपरेशन स्टीपलचेज़ चलाया था और पंजाब अभियान के दौरान हरियाणा, चंडीगढ़ और दिल्ली में समन्वित ऑपरेशन चलाया था. संघीय प्रणाली के कारण सन् 2009 में विभिन्न राज्यों में ऑपरेशन ग्रीन हंट में भी कोई रुकावट नहीं आई थी, लेकिन दिलचस्पी के अभाव में न तो इसकी सही योजना बनाई गई, न पर्याप्त संसाधन जुटाने गए, न इसे निरंतर चलाया गया और न ही इसका विस्तार किया गया. अब भी केंद्र सरकार अनुच्छेद 355 को लागू करके आंतरिक चुनौतियों से राज्यों को संरक्षण प्रदान कर सकती है और समन्वय का काम करते हुए अधिक व्यापक अभियान चला सकती है. लेकिन नक्सली इलाकों को न तो इतना महत्वपूर्ण माना जाता है और न ही इसके लिए कोई अपनी राजनैतिक सत्ता को दाँव पर लगाने को तैयार है.

विशेषज्ञ मानते हैं कि अन्य विद्रोहों के अलावा नक्सली विद्रोह को कम प्राथमिकता मिलने का कारण वह स्थान है जहाँ नक्सलियों का अड्डा है. एक पत्रकार ने इसे कुछ यों स्पष्ट किया था, “वहाँ कुछ है ही नहीं, तो करना क्या है”. राज्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र वही है, जो आर्थिक और रणनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो और जहाँ इनको किसी तरह का कोई खतरा न हो. अनेक सरकारें (यहाँ तक कि ब्रिटिश राज भी) उन संसाधनों का संरक्षण तो करती हैं, लेकिन अगर उन्हें कोई खतरा न हो तो विद्रोहियों के मुकाबले के लिए कम से कम रणनीति का इस्तेमाल करती हैं. रणनीतिक या आर्थिक आयात के खतरे से निपटने के लिए आवश्यक है कि प्रभावी तौर पर जवाबी कार्रवाई करने के लिए

आवश्यक अभियान चलाया जाए और इसके लिए खर्चीले और निरंतर प्रयास करने ज़रूरी हैं और अगर किसी क्षेत्र में रणनीतिक और आर्थिक लाभ न हो तो बस उतना ही खर्च किया जाता है जितना उसे नियंत्रण में रखने के लिए ज़रूरी हो.

बहुत कुशल और कम भ्रष्टाचारी मोदी सरकार से भी उम्मीद नहीं है कि वह नक्सली विद्रोह से निबटने के लिए वर्तमान रणनीति में किसी तरह का हिंसक या कोई और बदलाव लाएगी. मोदी ने हाल ही में नक्सली इलाकों के प्रति दया का भाव प्रदर्शित किया था और इससे पहले भी उन्होंने “अपने लोगों” के विरुद्ध हिंसक कार्रवाई करने के बजाय आपसी बातचीत के लिए उनका आह्वान किया था. अन्य राष्ट्रीय सुरक्षा घोषणाओं के अलावा उनके आदिवासी मामलों के मंत्री ने हाल ही में नक्सलवाद को “एक सामाजिक समस्या” बताया था और जोर देते हुए कहा था कि ऐतिहासिक रूप में आदिवासियों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता रहा है और उनका दिलो-दिमाग जीतकर ही उन्हें वापस लाने के लिए उनके विकास पर ध्यान दिया जाना चाहिए और उनके साथ बातचीत की जानी चाहिए. मोदी सरकार द्वारा इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास न करने का एक कारण यह भी है कि चुनावी वायदे के अनुसार उनकी चिंता के विषय हैं, भ्रष्टाचार, आर्थिक मामले और नक्सलवाद को लेकर सीमाओं पर मँडराने वाले खतरे. दूसरे मामलों में उलझे होने के कारण दशकों से चले आ रहे इस संघर्ष को लेकर न तो सरकार से वर्तमान रणनीति को बदलने या फिर इसके लिए कोई विशेष प्रोत्साहन की उम्मीद की जा सकती है. बहरहाल सरकार वर्तमान रणनीति को बनाए रखते हुए थोड़े-बहुत प्रयास तो करती ही रहेगी.

समीर लालवानी मैसासुएट्स इंस्टीट्यूट ऑफ़ टैक्नोलॉजी में राजनीति विज्ञान विभाग में डॉक्टरेट के प्रत्याशी हैं और जॉर्ज वाशिंगटन विश्वविद्यालय में सुरक्षा व संघर्ष अध्ययन संस्थान में प्री-डॉक्टरल फ़ेलो हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार

< malhotravk@gmail.com > मोबाइल: 91+9910029919